समीक्षा-संवाद

सुधीश पचौरी की रचना पर एकाग्र
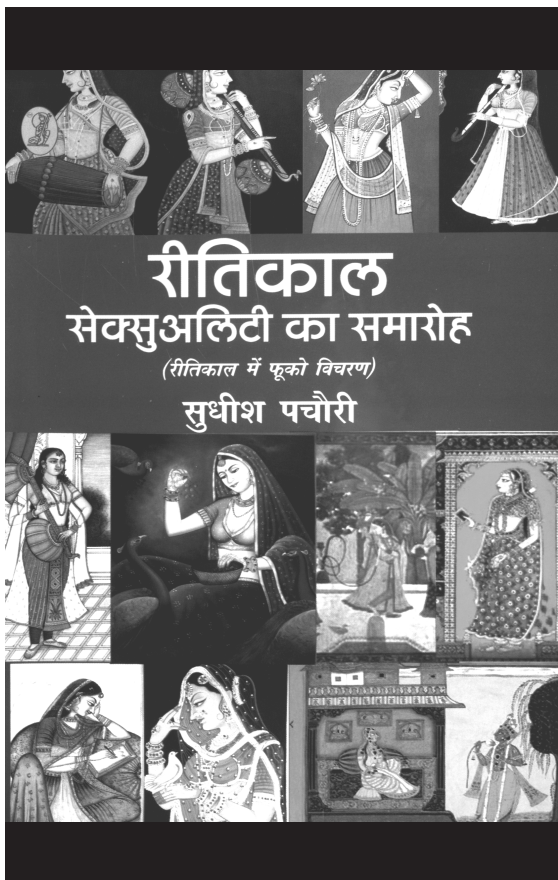
रीतिकाल : सेक्सुअलिटी का समारोह
(रीतिकाल में फूको विचरण)
सुधीश पचौरी
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 110002
मूल्य : 700 रुपये, पृष्ठ 392

सोलहवीं सदी में शुरू हो कर भक्तिकाल के साथ सहअस्तित्व रखते हुए उन्नीसवीं सदी के मध्य तक जारी रहने वाला रीतिकालीन काव्यांदोलन हिंदी साहित्येतिहास के गले में अटका हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी से लेकर बरास्ते रामचंद्र शुक्ल से रामविलास शर्मा तक इस काव्यांदोलन को इतिहास के पन्नों से मिटा देने के बौद्धिक प्रयास कर रहे हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी और नगेंद्र जैसे कुछ चुनिंदा अपवादों को छोड़ हिंदी आलोचकों ने ढाई सौ साल में फैली इस असाधारण परिघटना की उपेक्षा ही की है। सुधीश पचौरी की विचारोत्तेजक रचना *रीतिकाल : सेक्सुअलिटी का समारोह* ने एक बार फिर इस मुद्दे पर बहस का अवसर प्रदान किया है। रीतिकाल पर विशेष अध्ययन करने वाले युवा आलोचक वेंकटेश कुमार का तर्क है कि सुधीश के पास यह साबित करने के तथ्य नहीं हैं कि रीतिकाल यौनता के निर्माण या उसके प्रशिक्षण का काल था। इसके जवाब में साहित्य के समाजशास्त्र का विशिष्ट संधान करने वाले डॉ. राजकुमार ज़ोर दे कर कहते हैं कि हिंदी साहित्य में शृंगार रस का अवमूल्यन करने के पीछे मौजूद दृष्टि का संधान किये बिना इस भाषा के साहित्येतिहास को पटरी पर नहीं लाया जा सकता।

देखत चाहौ मोहिं जो, मम कविता लिख लेहु

वेंकटेश कुमार

सुधीश पचौरी की किताब *रीतिकाल : सेक्सुअलिटी का समारोह* रीतिकालीन कविता के मौलिक मूल्यांकन की गर्वोक्तियों और दावेदारियों से भरी पड़ी है। सुधीश को लगता है कि उन्होंने अपनी इस किताब के माध्यम से रीतिकाल को उसके हत्यारे के चंगुल से निकाल कर न सिर्फ़ आज़ाद कर दिया है, बल्कि इस दो सौ साल की हिंदी कविता को उसका वास्तविक हक़ भी दिलवा दिया है। इस किताब के केंद्र में 'स्त्री देह' है, जिसे सुधीश ने 'सेक्सुअलिटी का समारोह' कहा है। सुधीश 'स्त्री देह' की लाठी से 'सत्तामूलक विमर्श', 'नवजागरणवादी विमर्श' और 'विक्टोरियाई नैतिकता' के 'ब्रह्मचर्य' को खण्डित करते हुए रीतिकाल की 'सेक्सुअली एक्टिव स्त्री' को रीतिकालीन कविता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष घोषित करते हैं :

> हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल के विमर्श के रूपों को पढ़ते हुए एक सवाल का उत्तर कभी नहीं मिलता। वह सवाल रीतिकाल में स्त्री–देह और उसकी उत्कट यौनमूलता की विकट उपस्थिति से संबंधित है। ... दरबारों में रानियों और वेश्याओं के साहित्यिक सांस्कृतिक शिक्षण–दीक्षण के हेतु बनाए इस पाठ्यक्रम–साहित्य को 'रीति साहित्य' का नाम दिया गया। इस समय की रचना में स्त्री की इस क़दर उपस्थिति और दृश्यमानता ने इतिहास के सामने कुछ नये और तंग करने वाले सवाल तब तक नहीं खड़े किये, जब तक कि स्त्रीवादी विमर्श की धमक हिंदी में नहीं आ गयी। ... रीतिकाल में यौन सक्रिय / एक्टिव / नायिका हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के कथित नवजागरणवादी विमर्श के तहत 'निष्क्रिय' क्यों कर दी जाती है ?

सुधीश रीतिकाल का नया नामकरण करते हुए उसे 'यौनता के निर्माण का काल' या 'यौन शिक्षा का काल' कहने का प्रस्ताव रखते हैं। वे इस किताब के पहले अध्याय में रीति साहित्य को 'दरबारों में रानियों और वेश्याओं के साहित्यिक सांस्कृतिक शिक्षण–दीक्षण के हेतु बनाया गया पाठ्यक्रम साहित्य कहते हैं। दूसरे अध्याय में सुधीश के लिए रीतिकाल 'यौन शिक्षा का काल' हो जाता है। तीसरे अध्याय में 'यौन शिक्षा का काल' देशी भाषा में काव्यशास्त्र की शिक्षा का काल बन जाता है। सुधीश इस अध्याय में रीतिकालीन कविता के पाठकों से काव्यशास्त्र की गम्भीर समझ रखने की माँग करते हुए लिखते हैं कि 'अगर हिंदी का पाठक रस, छंद, अलंकार और नायिका भेदादि के बारे में कुछ नहीं जानता, तो हम केशव के छंदों की चमत्कारप्रियता, बिहारी के दोहों के लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थों, सुंदर पद मैत्री से मुक्त देव के सवैयों का सौंदर्य, सेनापति और पद्माकर के ऋतुवर्णन और घनानंद के व्यंजनार्थों को नहीं सराह सकते। छंद की जानकारी के बिना हम उनकी लयात्मकता और उनके अंतरंग संगीत का न आनंद ले सकते हैं, न अर्थ का अवगाहन ही कर सकते हैं।'

रीतिकालीन कविता को काव्यशास्त्रीय और सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से पढ़े जाने की वकालत करने के तुरंत बाद सुधीश इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'आज के अध्यापक न भानुदत्त की *रसमंजरी* को पढ़े होते हैं न केशव की *कविप्रिया* को ही पढ़े होते हैं, न नगेंद्र के *रस सिद्धांत* को ही गहराई से समझ पाते हैं। ... सिर्फ़ एक संस्कृत विद्वान प्रो़फ़ेसर राधावल्लभ त्रिपाठी ही ऐसे नज़र आते हैं

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 196

जो समकालीन हिंदी कविता में अलंकारों के प्रयोग और उपयोग पढ़ सकते हैं, आम हिंदी कवियों और आलोचकों की पदावली में अब अलंकार और उनका सहजबोध तक नहीं दिखता।' स्पष्ट रूप से सुधीश का यह मानना है कि रीतिकालीन कविता के सौंदर्य का मज़ा लेने की क्षमता सिर्फ़ राधावल्लभ त्रिपाठी के पास है। सिर्फ़ वही भानुदत्त की *रसमंजरी* और केशव की *कविप्रिया* समझ सकते हैं। *कविता का अंत* जैसी किताब के लेखक सुधीश पचौरी समकालीन हिंदी कविता में भी अलंकारों के 'प्रयोग और उपयोग' पढ़ने की वकालत करते हैं। राधावल्लभ त्रिपाठी को 'समकालीन हिंदी कविता में अलंकार-विधान' विषय पर भारी-भरकम किताब लिखकर हिंदी आलोचना की दयनीयता को दूर कर देना चाहिए।

इस जगह उल्लेखनीय है कि राधावल्लभ त्रिपाठी जैसी विशेषज्ञता रखने के कारण ही सुधीश आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डॉ. नगेंद्र जैसे विद्वानों को रीतिकालीन कविता का दुश्मन साबित करते हैं। सुधीश यह मानते हैं कि 'शुक्लजी के क़द का संस्कृत साहित्यशास्त्र-सिद्ध पण्डित जैसा समीक्षक कोई दूसरा नहीं।' वे एक तरफ़ यह कहते हैं कि हम नगेंद्र के रस सिद्धांत को भी नहीं समझ पाते, तो दूसरी तरफ़ यह भी कहने से नहीं चूकते कि 'नगेंद्र ने रीतिकालीन कविता को रस-सिद्धांत के कुएँ में डाल दिया।' सच तो यह है कि सुधीश ने रीतिकाल के कवियों को 'कवि शिक्षक' (ग्राहक की माँग के हिसाब से लक्षण-ग्रंथ लिखने वाला) के कुएँ में डाल दिया है। यह रीतिकालीन कवियों के साथ किया गया बहुत बड़ा अपराध है। रीतिकालीन कवि 'कवि-शिक्षक' या 'आचार्य' कहलाना पसंद नहीं करते थे। अन्य काल के कवियों की तरह रीतिकाल के कवियों की भी यही इच्छा रहती थी कि वे अपनी कविता के सौंदर्य के कारण ही जाने जाएँ।

सुधीश जिस केशवदास को अपने आश्रयदाता इंद्रजीत की वेश्याओं को साहित्य एवं यौनता का पाठ पढ़ाने वाला आचार्य मानते हैं, उसी केशवदास ने 'भाषा' (ब्रजभाषा, अवधी आदि) में कविता करने के लिए अपने समय के कवि-समुदाय से माफ़ी माँगी भी—

भाषा बोली न जानहिं जिनके कुल के दास
तेहि भाषा कविता करि जड़मति केशवदास

केशव के *कविप्रिया* नामक जिस ग्रंथ के आधार पर सुधीश उन्हें साहित्य-शिक्षक और काम-शिक्षक की पदवी देते हुए फूले नहीं समाते, वही केशव अपनी उस पुस्तक की रचना करते हुए किस तरह के अपराधबोध से ग्रसित थे, इसे ज़रा देखा जाए—

समुझै बाला-बालकन बरनन पंथ अगाध
कविप्रिया केशव करि छमियउ कवि अपराध

यदि रीतिकालीन आचार्यों के लिए कवि-शिक्षक की भूमिका निभाना उनके विशुद्ध कवि रूप से भी बड़ी बात होती तो केशव *कविप्रिया* के माध्यम से ऐसी भूमिका निभाने का अपराध करने के लिए माफ़ी नहीं माँगते!

एक और रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास की दिलचस्पी कवि-शिक्षक बनने में बिल्कुल ही नहीं है। वे तो प्रथमत: और अंतत: सिर्फ़ कवि हैं और अपने समाज से कवि-रूप में ही अपना मूल्यांकन किये जाने की माँग करते हैं—

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
नतु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानौ है

भिखारीदास रानियों-वेश्याओं या मध्यवर्गीय-निम्नमध्यवर्गीय विद्यार्थियों के शिक्षण के लिए पाठ्यक्रम सामग्री तैयार करके कवि-शिक्षक कहलाना पसंद नहीं करते। भिखारीदास की इच्छा है कि उनके समय के श्रेष्ठ कवि उनकी कविताओं को पसंद करें और सराहें। यदि भिखारीदास की कविता उनके समय के श्रेष्ठ कवियों को रिझाने में सफल नहीं हो पाती तो भी वे कवि-शिक्षक कहलाना पसंद न करके भक्त कवि कहलाना पसंद करेंगे।

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 197
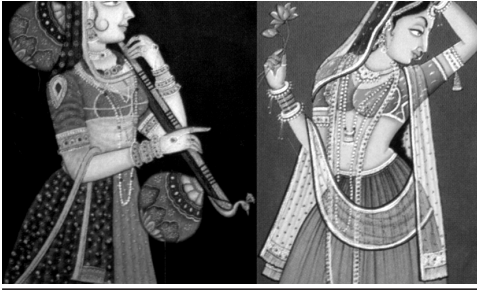
सुधीश ने रीतिकाल के कवियों को 'कवि शिक्षक' (ग्राहक की माँग के हिसाब से लक्षण-ग्रंथ लिखने वाला) के कुएँ में डाल दिया है। यह ... बहुत बड़ा अपराध है। रीतिकालीन कवि 'कवि-शिक्षक' या 'आचार्य' कहलाना पसंद नहीं करते थे। ... रीतिकाल के कवियों की भी यही इच्छा रहती थी कि वे अपनी कविता के सौंदर्य के कारण ही जाने जाएँ।

रीतिकाल के नीतिपरक कवियों की किताबें भी उस समय के पाठ्यक्रम का हिस्सा होती थीं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी किताब *हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास* में लिखा है कि 'वृन्द सतसई के दोहे' उत्तर-मध्यकाल में बहुत सम्मान के साथ पढ़े-पढ़ाए जाते रहे हैं।' लेकिन सुधीश के 'सेक्सुअलिटी के समारोह' में भला नीतिपरक कवियों का क्या काम!

थोड़ा जोखिम लेते हुए मैं यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि रीतिकाल में एक भी कवि ऐसा नहीं है जो ख़ुद को कवि-शिक्षक के रूप में याद किया जाना पसंद करता हो। सम्पूर्ण हिंदी साहित्येतिहास में विषयवादी स्वर की ऐसी प्रचण्ड उपस्थिति रीतिकाल को छोड़कर शायद अन्य किसी भी काल में नहीं पाई जाती। एक तरफ़ रीतिकाल के बारे में यह कहा जाता है कि इसमें शृंगारिक कविताओं की प्रधानता है तो दूसरी तरफ़ यह भी कहा जाता है कि इस काल में जितनी नीतिपरक कविताएँ लिखी गयीं उतनी किसी अन्य काल में नहीं। इस काल में एक तरफ़ जहाँ लक्षण और उदाहरण शैली में कविता करने की परिपाटी लोकप्रिय हुई, वहीं दूसरी तरफ़ इसी काल में रीतिमुक्त कवियों के एक बड़े वर्ग ने न सिर्फ़ बँधी हुई परिपाटी में कविता करने से इंकार किया बल्कि ऐसे कवियों का मज़ाक भी उड़ाया। रीतिमुक्त कवि ठाकुर ने बँधी हुई परिपाटी में कविता करने वाले कवियों का मज़ाक उड़ाते हुए लिखा :

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन
सीखि लीनो जस ओ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीनो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत पाकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बांधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।

ठाकुर डंके की चोट पर यह घोषणा करते हैं— 'देखन चाहौ मोंहि जौ, मम कविता लखि लेहु।' लेकिन सुधीश रीतिकालीन कवियों को 'कवि-शिक्षक' घोषित करने के उत्साह में उनके इस पक्ष को भुला देते हैं। सुधीश को अपनी इस किताब के शीर्षक में 'विशेष संदर्भ : रीतिबद्ध कवि' या 'विशेष संदर्भ : रीतिकालीन आचार्य' भी जोड़ देना चाहिए था।

सुधीश अपनी इस किताब में एक तरफ़ तो आचार्य शुक्ल और डॉ. नगेंद्र जैसे आलोचकों पर रीतिकाल को हीनतर करने और कुएँ में डालने का आरोप लगाते हैं तो दूसरी तरफ़ रीतिकाल विषयक इनके अध्ययनों को आधार बनाकर अपनी बात कहने की कोशिश करते हैं। सुधीश की इस किताब में आचार्य शुक्ल, नगेंद्र और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के उद्धरणों की भरमार है।

इसमें किसी तरह का कोई विवाद नहीं है कि आचार्य शुक्ल की सबसे अच्छी रचना *हिंदी साहित्य का इतिहास* है। केदारनाथ सिंह आचार्य शुक्ल की इस किताब को हिंदी आलोचना की

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 198

सर्वश्रेष्ठ पुस्तक तो मानते ही हैं, हिंदी कविता का सर्वश्रेष्ठ संचयन भी मानते हैं यह सच है कि बिहारी, घनानंद, मतिराम, भिखारीदास, पद्माकर आदि कवियों का जो मूल्यांकन आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत किया है, वह आज भी इन कवियों की सर्वश्रेष्ठ आलोचना है। लेकिन सुधीश की दृष्टि में यही चीज़ आचार्य शुक्ल का अपराध बन जाती है— 'रीतिकाल के दौरान पूरे दो सौ साल तक लिखी जाती अनंत रचनाओं को, उनकी टेक्स्टों को, उसी तरह देखा जाता रहा जिस तरह शुक्लजी ने देखा।' लेकिन सुधीश तुरंत अपनी बात से पलट जाते हैं और कहते हैं— 'रामचंद्र शुक्ल तब भी काफ़ी उदार नज़र आते हैं लेकिन बाद में तो रीतिकाल की धुलाई ही होती रहती है।'

■■■

हिंदी आलोचना में रीतिकाल के कवियों को लेकर कवित्व और आचार्यत्व संबंधी काफ़ी विवाद हुआ है। इस विवाद में आचार्य शुक्ल रीतिकाल के कवियों (लक्षण और उदाहरण की परिपाटी में कविता करने वाले सिर्फ़ रीतिबद्ध कवियों) की कविताओं को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और आचार्यत्व की भूमिका को कमतर मानते हुए उस पर मौलिकता के अभाव का आरोप लगाते हैं— 'इन रीतिग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अंत में उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषत: शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षणों से चुनकर इकट्ठा करें तो भी इतनी अधिक संख्या न होगी।' आचार्य शुक्ल के ऐसे ही कथनों को आधार बनाकर यह कहा जाता है कि रीतिकालीन कविता का उनसे बड़ा प्रशंसक हिंदी में कोई दूसरा पैदा नहीं हुआ। रीतिकाल के लक्षण ग्रंथकार कवियों, जिसे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिबद्ध कवि कहा है, के काव्यशास्त्रीय योगदान को आचार्य शुक्ल ने कमतर मानते हुए, उन पर मौलिकता के अभाव का आरोप लगाया है। इस आरोप के पीछे आचार्य शुक्ल का यह तर्क है कि हिंदी में उस समय तक गद्य का विकास नहीं हो पाया था। स्वाभाविक रूप से आचार्य शुक्ल संस्कृत के आचार्यों से रीतिकाल के आचार्यों की तुलना करना सही नहीं मानते थे। नि:संकोच भाव से आचार्य शुक्ल इस मामले में संस्कृत के आचार्यों को श्रेष्ठ मानते थे। लेकिन कवित्व की कसौटी पर आचार्य शुक्ल रीतिकाल के कवियों को ही श्रेष्ठ मानते हैं, 'हिंदी में लक्षणग्रंथ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए हैं वे आचार्य की कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे।'

आचार्य शुक्ल द्वारा रीतिकाल के कवियों को आचार्य न मानकर कवि मानना सुधीश को एकदम नागवार लगा। इस बात के लिए वे आचार्य शुक्ल पर हमलावर हो उठे, 'खेद की बात है कि रीतिकाल के उपलब्ध मूल्यांकनों में उस दौर के कवियों के आचार्यत्व की 'मौलिकता' और 'अमौलिकता' खोजने पर जितना ध्यान दिया गया, उतना उनके 'कवि शिक्षक' रूप पर ध्यान नहीं दिया गया। इसी वजह से रीतिकालीन आचार्यों का कवि शिक्षक वाला पक्ष एकदम उपेक्षित रहा।' यह देखना बड़ा ही दिलचस्प है कि सुधीश रीतिकालीन आचार्यों के कवि शिक्षक रूप को स्थापित करने के लिए आचार्य शुक्ल के कथनों का ही सहारा लेते हैं, 'यहाँ शुक्ल जी के प्रयुक्त— 'विद्यार्थियों' और 'काव्यरीति के अभ्यासियों— दो शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि उस दौर में कविता सीखने वाले विद्यार्थी बाज़ाब्ता हुआ करते थे।' दरअसल सुधीश जितने उत्साह और उत्तेजना के साथ 'कवि-शिक्षक' वाली बात उठाते हैं उतने उत्साह और उत्तेजना के साथ अपनी बात को पुष्ट करने के लिए प्रमाण नहीं जुटाते। सुधीश को भारतीय शिक्षा का इतिहास खँगाल कर यह पता लगाना चाहिए था कि भक्तिकाल और रीतिकाल के शिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रमों में किस तरह का अंतर था।

सुधीश की इस किताब की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि इसमें वे रीतिकाल के कवियों की

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 199
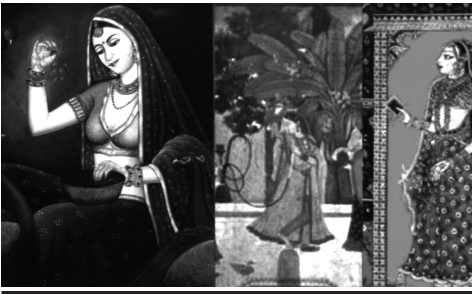
सम्पादक सुधीश पचौरी ने भी अपनी पत्रिका का कोई अंक रीतिकालीन कविता पर केंद्रित नहीं किया। सुधीश रीतिकालीन कवयित्रियों का सिर्फ़ नाम भर ले पाते हैं, उनके किसी काव्य-ग्रंथ का उदाहरण नहीं दे पाते। रीतिकाल की किसी कवयित्री का कोई काव्यग्रंथ न मिलना, उन पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण के कई आयाम हमारे सामने खोल देता है।

कविताओं पर बहुत ही कम बात करते हैं। यह देख कर बहुत ताज्जुब होता है कि सुधीश ने अपनी इस किताब में जिस एकमात्र कवि की कविता का विस्तार से विश्लेषण किया है, वह भक्तिकाल के कवि रहीम हैं। रीतिकाल को 'स्त्री यौनिकता के निर्माण का काल' साबित करने के लिए सुधीश ने भक्तिकाल के कवि रहीम को क्यों चुना, इस सवाल पर विचार करने से पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि सुधीश के लिए यौनिकता का क्या मतलब है? सुधीश की दृष्टि में 'यौनता की शिक्षा का मतलब सिर्फ़ यौन शिक्षा भर नहीं है। ...' यौनता की शिक्षा जीवन-कौशल की शिक्षा मानी जाती है। ... रीतिकाल के कवियों की कविता का बहुलांश यही करता है।' यौनता की शिक्षा यदि जीवन-कौशल की शिक्षा है तो फिर हम कबीर और तुलसी की कविता को 'यौनता के निर्माण' की कविता क्यों न कहें? प्रेमचंद के उपन्यासों को या राजकमल चौधरी की कहानियों को हम 'यौनता के निर्माण' का साहित्य क्यों न कहें? सुधीश की इस किताब से गुज़रते हुए कहीं भी यह नहीं लगता कि वे रीतिकाल के संदर्भ में जिस 'स्त्री-यौनता का निर्माण' या 'सेक्सुअलिटी का समारोह' की बात करते हैं, वह जीवन-कौशल की शिक्षा है। सुधीश स्त्री-यौनता के निर्माण की बात करते हैं। ज़ाहिर है कि इसमें 'पुरुष-यौनता का निर्माण' शामिल नहीं है।

सुधीश रीतिकाल के कवियों पर मर्दवादी नज़रिया का आरोप लगाते हुए लिखते हैं— 'वे स्त्री यौनता का निर्माण पुरुषवादी मानसिकता से ही करते हैं।' इसका मतलब यह हुआ कि सुधीश यह मानते हैं कि रीतिकाल में स्त्री-यौनता के निर्माण में पुरुषों ने अपनी मनमानी की, स्त्रियों से उनकी इच्छा नहीं पूछी गयी। यही बात ज़्यादा अच्छे ढंग से आचार्य रामचंद्र शुक्ल जायसी ग्रंथावली की भूमिका में लिख चुके हैं— 'पुरुषों ने अपनी ज़बरदस्ती से स्त्रियों के कुछ दुःखात्मक भावों को भी अपने विलास और मनोरंजन की सामग्री बना रखा है। जिस दिलचस्पी के साथ वे मेढ़ों की लड़ाई देखते है उसी दिलचस्पी के साथ अपनी कई स्त्रियों के परस्पर कलह को। नवोढ़ा का 'भय और कष्ट' भी नायिका-भेद के रसिकों के आनंद के प्रसंग हैं। इसी परिपाटी के अनुसार स्त्रियों की प्रेम-संबंधिनी ईर्ष्या का भी श्रृंगार-रस में एक विशेष स्थान है। यदि स्त्रियाँ भी इसी प्रकार पुरुषों की प्रेम-संबंधिनी ईर्ष्या को अपने खिलवाड़ की चीज़ बताते तो कैसा?'

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि सुधीश को रीतिकाल की ही स्त्रियाँ 'सेक्सुअली एक्टिव' और 'सेक्सुअलिटी के समारोह' का आयोजन करने वाली स्त्रियों क्यों लगती है? रीतिकाल की स्त्रियों के बारे में इस तरह के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए सुधीश जिन तर्कों का सहारा लेते हैं वे बहुत ही कमज़ोर तर्क हैं। रीतिकाल की स्त्रियों को 'सेक्शुअली एक्टिव' साबित करने के चक्कर में सुधीश भक्तिकाल की कविता का अवमूल्यन करने लगते हैं। रीतिकाल की दरबारी प्रवृत्ति को उचित साबित करने के उत्साह में सुधीश भक्तिकाल के कवियों के बारे में जो कहते हैं, वह देखने लायक़ है—'हम जानते हैं कि भक्त कवि भी एक प्रकार के दरबारी ही रहे क्योंकि वे मंदिरों के लिए कविताएँ करते थे।' जायसी, कबीर, सूर, तुलसी या मीरां जैसे कवियों की कविताओं को 'मंदिरों के लिए कविताएँ'

कहना हास्यास्पद है। तुलसीदास की रचनाओं का पाठक यह अच्छी तरह से जानता है कि तुलसी के यहाँ काम (जिसे सुधीश यौनता या सेक्सुअलिटी कहते हैं) का अभाव नहीं है। काम और राम तुलसी-साहित्य का केंद्रीय तत्व है। 'तन तरफ़त तुव मिलन बिन' जैसी काव्य-पंक्तियाँ भक्त कवि तुलसी की हैं। तुलसी काशी की कामुक स्त्रियों से परेशान रहते थे। मंदिरों-मठों में अनवरत 'सेक्सुअलिटी का समारोह' चलता रहता था। भक्त कवियों की नारी-निंदा के पीछे कहीं 'सेक्सुअली एक्टिव' स्त्रियाँ ही तो नहीं थीं! कबीर ने शायद 'सेक्सुअली एक्टिव' स्त्रियों को ध्यान में रखकर ही यह कहा था कि—

नारी नसावै तीन गुन जो नर पासै होए
भक्ति मुक्ति नित ध्यान में पैठि सकत नहीं कोय

'सेक्सुअलिटी की निर्मितियाँ' खोजने के लिए सुधीश अकबर के दरबार के भक्त कवि रहीम की कविताओं का विस्तार से विश्लेषण करते हैं। सुधीश रहीम के जिस 'नगर शोभा' में 'सेक्सुअलिटी की निर्मितियाँ' खोजते हैं वह 'नगर शोभा' अकबर के मशहूर 'मीना बाज़ार' की है। सुधीश मीना बाज़ार के दृश्यों को भारत के सभी शहरों और गाँवों पर लागू कर देते हैं। कहना न होगा कि मीना बाज़ार को सम्पूर्ण भारत मान लेना अव्वल दर्जे का सतहीकरण और सरलीकरण है।

जिस तरह से रहीम ने 'नगर शोभा' के अंतर्गत विभिन्न जाति की स्त्रियों का वर्णन किया है उसी तर्ज़ पर रीतिकाल के नीतिपरक कवि दीनदयाल गिरि ने भी विभिन्न जाति की स्त्रियों का वर्णन किया है। सवाल उठता है कि सुधीश रीतिकाल के कवि दीनदयाल गिरि के पास न जाकर भक्तिकाल के कवि रहीम के पास क्यों जाते हैं? चूँकि रहीम मीना बाज़ार की औरतों को ध्यान में रख कर विभिन्न जातियों या पेशों की स्त्रियों का वर्णन करते हैं इसलिए इनकी कविताओं में स्वाभाविक रूप से 'सेक्सुअलिटी की निर्मितियाँ' ज़्यादा प्रखर और मुखर हैं। बैरागी कवि दीनदयाल गिरि ने विभिन्न जातियों की स्त्रियों का वर्णन करते हुए नीति, ज्ञान और वैराग्य पर बल दिया है।

सुधीश की इस किताब की सबसे बड़ी स्थापना यह है कि रीतिकालीन कविता की 'सेक्सुअली एक्टिव' स्त्रियाँ उस समय के समाज में बड़ी संख्या में जीती-जागती पाई जाती थीं। सवाल उठता है कि इस तरह के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए सुधीश ने रीतिकालीन कविता के अलावा और किस तरह की सामग्री का इस्तेमाल किया है? सुधीश रीतिकालीन स्त्रियों की दशा जानने के लिए कविता के अलावा सामाजिक इतिहास और सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने पर ज़ोर देते हैं। इस क्रम में वे चारु गुप्ता, कुमकुम संगारी और फ्रंचेस्का ओर्सीनी के स्त्री-विषयक अध्ययनों का सहारा लेते हैं। लेकिन इन विदुषी महिलाओं का स्त्री-विषयक अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की स्त्रियों पर केंद्रित है। इन लेखिकाओं का अध्ययन हमें यह समझने में तो मदद करता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में स्त्रियों की आशाओं- आकांक्षाओं को पितृसत्ता किस तरह से नियंत्रित कर रही थी। लेकिन रीतिकालीन समाज में 'सेक्सुअली एक्टिव' स्त्रियाँ कैसे बनीं और पितृसत्ता से उनके संघर्ष का स्वरूप कैसा रहा— ऐसे सवाल तो हवा में लटके ही रह जाते हैं। सुधीश यदि इस तरह के सवालों से मुठभेड़ करते हुए 'सेक्सुअलिटी का समारोह' वाले निष्कर्ष पर पहुँचते तो उनकी यह किताब कालजयी कृति का दर्जा प्राप्त कर लेती।

■■■

सुधीश अपनी इस किताब के पहले अध्याय में अपने अध्ययन का निष्कर्ष इस तरह प्रस्तुत करते हैं— 'रीतिकाल को उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दिनों और बीसवीं सदी के शुरू के दिनों से लेकर आज तक श्रेष्ठता के क्रम में अगर नीचे रखा गया है तो उसके पीछे विक्टोरियाई ब्राह्मणीकल पुल्लिंगी
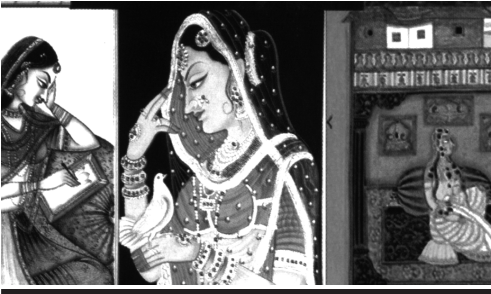
11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 201

जिस तरह से रहीम ने 'नगर शोभा' के अंतर्गत विभिन्न जाति की स्त्रियों का वर्णन किया है उसी तर्ज़ पर रीतिकाल के नीतिपरक कवि दीनदयाल गिरि ने भी विभिन्न जाति की स्त्रियों का वर्णन किया है। सवाल उठता है कि सुधीश रीतिकाल के कवि दीनदयाल गिरि के पास न जाकर भक्तिकाल के कवि रहीम के पास क्यों जाते हैं?

नैतिक विमर्श रहे हैं, जिनका उद्देश्य स्त्री यौनता को नियंत्रण में रखने की कोशिश करना रहा है।' इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद सुधीश को विस्तार से उन अध्ययनों और विमर्शों के बारे में भी बतलाना चाहिए था जिसने उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दिनों से आजतक रीतिकाल को श्रेष्ठता के क्रम में ऊपर रखा है और स्त्री–यौनता को नियंत्रित करने की कोशिशों का लगातार विरोध किया है। लेकिन सुधीश ऐसा नहीं करते। सुधीश अपनी इस किताब में लगातार 'नवजागरणवादी विमर्श' का मज़ाक उड़ाते हैं। सुधीश यदि *सरस्वती, माधुरी* और *चाँद* जैसी पत्रिकाओं की फ़ाइलों को पलटते तो शायद इस तरह के सरलीकृत निष्कर्षों से बच जाते। *चाँद* के स्त्री–अंक, विधवा–अंक और वेश्या–अंक जैसे विशेषांकों को पलटने से यह पता चलता है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्त्री की यौनिकता को नियंत्रित करने वाली ताक़तों को कड़वे और असहज कर देने वाले सवालों से टकराना पड़ रहा था।

सुधीश की दृष्टि में रीतिकाल की 'सेक्सुअली एक्टिव' स्त्रियाँ मोटे तौर पर वेश्याएँ और नीची जाति की महिलाएँ हैं। सुधीश लिखते हैं कि 'जाति का जो वितरण इस समय में दिखता है, उसमें उच्चवर्ग की कोई स्त्री रखैल बनेगी या नायिका बनेगी, इसमें ज़रा संदेह ही नज़र आता है।' सुधीश निम्न जाति की नटिनी, बेड़िनी जैसे 'निलज वनिता' (निर्लज्ज स्त्री) की तुलना कैबरे डांस करने वाली हेलेन से करते हुए लिखते हैं— 'निम्नजाति की निलज वनिताएँ 'सेक्सवर्कर' यानी नाच दिखाने वाली, गाली सुनाने वाली रही होंगी। वे कविता के हर छंद में नाचती हैं, लेकिन हाय! इतिहास उन्हें कहता है कि वे बनावटी हैं, कल्पित हैं।' सुधीश बिना किसी ठोस आधार और प्रमाण के यह निष्कर्ष देते हैं कि वेश्याएँ, सेक्स वर्कर, रखैल, बार डांसर, नाचने वाली, पुरुषों का मनोरंजन करने वाली स्त्रियाँ निम्न जाति और पिछड़ी जाति की स्त्रियाँ होती थीं। कहना न होगा कि इस तरह का निष्कर्ष भयानक रूप से दलित विरोधी और स्त्री विरोधी निष्कर्ष है। इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि एक मई, 2016 के जनसत्ता में 'देहलीला से देहगान तक' शीर्षक अपने लेख में सुधीश पचौरी लिखते हैं— 'एक से एक' वासकसज्जाएँ रीतिकाल में भरी पड़ी है? सनी लियोनी तो उनके आगे कुछ भी नहीं है, सनी लियोनी को देख चकित होने वालों को पहले 'रीतिकाल' को पढ़ लेना चाहिए।' बताने की ज़रूरत नहीं कि सनी लियोनी पोर्न स्टार रह चुकी हैं।

सुधीश अपनी इस किताब के पहले अध्याय की पहली पंक्ति में चार शक्तिशाली विदेशी महिलाओं का नाम लेते हैं— मेडोना, जेके रोलिंग, केट मोस तथा मेरी बूच। पहली प्रख्यात गायिका और अभिनेत्री हैं, दूसरी हैरी पॉटर की लेखिका हैं, तीसरी प्रख्यात मॉडल है, चौथी बैरिस्टर हैं। सुधीश फ़रमाते हैं— 'रीतिकाल में हमारे यहाँ थी ऐसी ही नायिकाएँ रहीं लेकिन उन्हें क्रमिक तरीक़े से पराजित कर दिया गया।' लेकिन सुधीश रीतिकाल की एक भी ऐसी ही नायिका का नाम तक नहीं लेते। रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के हवाले से सुधीश रीतिकाल की कुछ कवयित्रियों का सिर्फ़ नामोल्लेख करते हैं और अपनी ओर से 'केशवकालीन रायप्रवीन' का नाम जोड़ते हैं। दरअसल रीतिकालीन कवियों की अधिकांश किताबें या तो नष्ट हो गयीं या आज भी किसी शोधार्थी की प्रतीक्षा में राजघरानों

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 202

के तहख़ानों में या पुरानी पुस्तकालयों के पाण्डुलिपि विभाग की आलमारियों में नष्ट होने की क़गार पर है। इमरै बंगा जब रीतिकाल पर शोध करने के लिए भारत आते हैं तो उनका ध्यान नष्ट होने के कगार पर पहुँच चुकी ऐसी ही हज़ारों पाण्डुलिपियों की ओर जाता है और वे यह देख कर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। रीतिकाल के कवियों की विलुप्त पाण्डुलिपियों या हस्तलिखित ग्रंथों को सामने लाकर उसे प्रकाशित कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य नागरीप्रचारिणी सभा काशी ने किया। सुधीश द्विवेदी युग पर रीतिकालीन 'सेक्सुअली एक्टिव' स्त्रियों की सेक्शुअलिटी को दबाने का आरोप लगाते हैं। यदि हम द्विवेदी युग की साहित्यिक पत्रिकाओं की फ़ाइलों को पलटते हैं तो रीतिकालीन कवियों की बहुआयामी प्रचण्ड उपस्थिति देखकर दंग रह जाते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं में द्विवेदी युग के बाद रीतिकाल को इतनी जगह कभी नहीं मिली। पिछले 40-50 वर्षों की साहित्यिक पत्रकारिता रीतिकालीन कवियों के लिए वर्जित प्रदेश की तरह रहा है।

■■■

हम इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि किसी पत्रिका का विशेषांक केशव, देव, बिहारी, मतिराम, घनानंद या बोधा जैसे कवियों पर केंद्रित हो। *वाक्* के सम्पादक सुधीश पचौरी ने भी अपनी पत्रिका का कोई अंक रीतिकालीन कवि या रीतिकालीन कविता पर केंद्रित नहीं किया। सुधीश रीतिकालीन कवयित्रियों का सिर्फ़ नाम भर ले पाते हैं, उनके किसी काव्य-ग्रंथ का उदाहरण नहीं दे पाते। रीतिकाल की किसी कवयित्री का कोई काव्यग्रंथ न मिलना, उन पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण के कई आयाम हमारे सामने खोल देता है। सुधीश रायप्रवीन नाम बड़े ही उत्साह के साथ लेते हैं। लेकिन इनके भी किसी काव्य ग्रंथ का नाम नहीं ले पाते। सुधीश रायप्रवीन को वेश्या कहते हैं। हमें यह समझना होगा कि रायप्रवीन देह का व्यापार करने वाली वेश्या नहीं थीं। मिश्रबंधु ने रायप्रवीन के बारे में कहा है कि 'गणिका होने पर भी वह पतिव्रता थी।' हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रायप्रवीन को 'पतिव्रता गणिका' कहा है। रायप्रवीन के अलावा भी इंद्रजीत की कई वेश्याएँ थीं। वे सभी वेश्याएँ पतिव्रता ही रही होंगी और अपनी काम-भावना को संतुष्ट करने के लिए इंद्रजीत पर ही अश्रित रहती होंगी। कहना न होगा कि यह स्त्रियों के प्रति अत्याचार का जीवंत और भयानक उदाहरण है। इस तरह के उदाहरण रीतिकालीन कविता में भरे पड़े हैं।

क्या यह आकस्मिक है कि सुधीश अपनी इस पूरी किताब में एक बार भी प्रेम, मोहब्बत या आशिक़ी जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं करते। क्या रीतिकालीन 'सेक्सुअली एक्टिव' स्त्रियों को सिर्फ़ 'सेक्स' की भूख लगती थी, या वे प्यार की भी भूखी होती थी। रीतिकाल के बोधा और घनानंद जैसे कवि यह बताते हैं कि रीतिकाल की स्त्रियाँ प्यार की भूखी होती थीं, सम्मान की भूखी होती थीं। कहा जाता है कि पन्ना नरेश के दरबार की सुभान नामक वेश्या से बोधा प्यार कर बैठे। सुभान भी बोधा को चाहने लगी। महाराज को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने बोधा को दण्डस्वरूप अपने राज्य से छह महीने के लिए निष्काषित कर दिया। सुभान के वियोग में बोधा ने *विरह वारीश* ग्रंथ रच डाला। ग्रंथ पढ़कर महाराज इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सुभान को उसके सच्चे प्रेमी बोधा के पास भेज दिया। बोधा प्रेम करते ही नहीं, उसे निभाना भी जानते थे। बोधा प्रेम को परिभाषित करते हुए लिखते हैं— 'यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावतो है।' बोधा प्रेम को तलवार की धार पर चलने जैसा मानते थे। रीतिकाल के ही एक महत्त्वपूर्ण कवि घनानंद के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा कि 'प्रेम की पीर' ही को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जवांदाज़ी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।'

केशवदास सुधीश के प्रिय कवि हैं। इसकी एक वजह केशव द्वारा वेश्याओं को यौनता और

साहित्य की शिक्षा प्रदान करना हो सकता है। सुधीश की इस किताब के दूसरे अध्याय का शीर्षक ही है— स्त्री-यौनता का निर्माण, इतिहास और केशव का 'अपराध'। सुधीश का ध्यान रायप्रवीन की 'सेक्सुअलिटी' पर तो जाता है, लेकिन वे यह नहीं देख पाते कि केशव ने रायप्रवीन की तुलना उमा, शारदा और शिवा से की है। अपनी रचना *वीर सिंह देव चरित* में केशव लिखते हैं—

पति पतिनी बहु करै पति न, पतिनी बहु करही
पति हित पतिनी जरहि, पति न पतिनी हित मरही

इस तरह से रीतिकालीन नारी का आदर्श सामने रखते हुए केशव लिखते हैं—

नारी तजै न आपनो सपने हू भरतार
पंगु, गुंग बैरइ, बधिर अंध अनाथ अपार

दरअसल सुधीश अपनी इस किताब में रीतिकाल के बारे में जिस तरह की स्थापनाएँ करते हैं, उसे प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं जुटा पाते।प्रेमचंद ने केशव की ऐसी ही काव्य-पंक्तियों का नोटिस लेते हुए लिखा था कि 'केशव ने स्त्रियों के लिए पतिव्रत मुख्य धर्म बतलाया है जो प्राचीन हिंदू समाज का एक विशेष अंग है और यद्यपि अब ज़माने ने सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में एक उथल-पुथल मचा दी है और स्त्री का व्यक्तित्व अपने पति में खोया हुआ न रह कर अलग एक सत्ता बन चुका है ... इसलिए इस मामले में हम केशव को दोषी नहीं समझते।'

सुधीश रीतिकाल की वेश्याओं की तुलना आजकल की सेक्सवर्कर और बार डांसर से करते हैं जो एकदम ग़लत है। इस मामले की विस्तार से व्याख्या करने का अवकाश इस स्थल पर नहीं है। वसुधा डालमिया अपनी किताब *हिंदू परम्पराओं का राष्ट्रीयकरण, भारतेंदु हरिश्चंद्र और उन्नीसवीं सदी का बनारस* में लिखती हैं कि 'उनके पास (भारतेंदु के पास) एकमात्र स्थिर शिक्षा तवायफ़ों के पास उनकी आवाजाही थी जिसको परम्परा की भी स्वीकृति प्राप्त थी। यहीं आकर धनाढ्य युवक रईसों और कला रसिकों के आचरण सीख सकते थे। ... उन्हें अपने दौर की विख्यात तवायफ़ों से संगीत और गायन का प्रशिक्षण मिला था।'

जो भी हो, रीतिकाल को जब अकादमिक दुनिया में विचार-विमर्श से लगभग बाहर कर दिया गया हो, ऐसे में सुधीश की यह किताब लोगों को रीतिकाल पर बहस करने के लिए आमंत्रित करती है। रीतिकाल पर तमाम बहसों, मुबाहिसों की ख़बर लेती इस किताब से गुज़रना एक उत्तेजनापूर्ण और दिलचस्प अनुभव से गुज़रने जैसा है।

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 204

प्रश्न तो यह है कि शृंगार का अवमूल्यन क्यों हुआ ?

डॉ. राजकुमार

वैसे तो मैं *प्रतिमान* (अंक 8, जुलाई-दिसम्बर, 2017) में रीतिकालीन साहित्य के संबंध में टिप्पणी कर चुका हूँ। सुधीश पचौरी की पुस्तक *रीतिकाल : सेक्सुअलिटी का समारोह* पर वेंकटेश कुमार की समीक्षा पढ़ने के बाद भी मुझे अपनी उस टिप्पणी में कही गयी बातों में सैद्धांतिक स्तर पर बदलाव की ज़रूरत नहीं महसूस हो रही है।

यह सही है कि सुधीश पचौरी लम्बे समय से अकादमीय क़िस्म का लेखन नहीं कर रहे हैं। इसके बावजूद यह देखकर सुखद अश्चर्य हुआ कि मध्यकालीन हिंदी साहित्य के अद्यतन चिंतन से वे पूरी तरह बेख़बर नहीं हैं। मिसाल के तौर पर संध्या शर्मा की पुस्तक *लिटरेचर, कल्चर ऐंड हिस्ट्री इन मुगल नॉर्थ इण्डिया* का कई स्थानों पर उन्होंने सिर्फ़ उल्लेख ही नहीं किया है बल्कि उसकी निष्पत्तियों का अपने तर्क के समर्थन में इस्तेमाल भी किया है। यह अलग बात है कि मुझे इस बात से भी आश्चर्य हुआ कि सुधीश पचौरी की पुस्तक और वेंकटेश कुमार की समीक्षा में रीतिकालीन शृंगार काव्य पर एलिशन बुश की बेहद महत्त्वपूर्ण कृति *क्रिंग्ज़ पोएट्री* का कोई ज़िक्र नहीं मिलता। वैसे तो हिंदी के एक गम्भीर विद्वान ने इसे साम्राज्यवादी साज़िश का हिस्सा क़रार दिया है, लेकिन मेरी समझ के मुताबिक़ रीतिकालीन शृंगारिक कविता पर कोई भी नयी बहस इस पुस्तक को पूरी तरह से दरकिनार कर आगे नहीं बढ़नी चाहिए। यह रीतिकालीन शृंगारिक कविता पर हिंदी या अंग्रेज़ी में लिखी गयी सबसे बेहतर पुस्तकों में से सम्भवत: एक है। यह पुस्तक इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें रीतिकालीन शृंगारिक कविता को पतनशील और अश्लील साहित्य घोषित कर दिये जाने की समूची कहानी सम्भवत: पहली बार पेश की गयी है। बुश के अनुसार इसकी शुरुआत ग्रियर्सन से होती है और परवर्ती हिंदी आलोचना में यह प्रवृत्ति परवान चढ़ती है। मगर फिलहाल हमारा मक़सद इस पुस्तक पर नहीं, बल्कि सुधीश पचौरी की पुस्तक पर विचार करना है। इसलिए इस पुस्तक की विस्तार से चर्चा करना उचित नहीं होगा। इसके बावजूद सुधीश पचौरी की पुस्तक समकालीन बौद्धिक विमर्श से पूरी तरह अछूती नहीं है— जैसा कि पहले कहा गया कि संध्या शर्मा की पुस्तक से वे वाक़िफ़ हैं, चारु गुप्ता की पुस्तक *स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक* से भी वे वाक़िफ़ हैं और पुस्तक के तर्कों का अपने मत के समर्थन में उन्होंने उपयोग भी किया है।

प्रतिमान में प्रकाशित अपनी पूर्व लिखित टिप्पणी में मैंने इस बात का ज़िक्र किया है कि आधुनिकता की सैद्धांतिकी के आगमन के साथ साहित्य और कलाओं की अपेक्षाकृत स्वायत्त भूमिका पर आधुनिकता का अंकुश लग जाता है और इसी के साथ आधुनिकता-प्रसूत नाना विचारधाराएँ प्रासंगिकता के निकष पर साहित्य और कलाओं का मूल्यांकन करने लगती हैं। साहित्य और कलाओं की प्रासंगिकता पर अतीत में शायद ही कभी इस तरह विचार किया गया हो। जब से साहित्य और कलाओं की भूमिका आधुनिकता के अधीन हुई, तभी से आज तक लगातार इनकी प्रासंगिकता पर
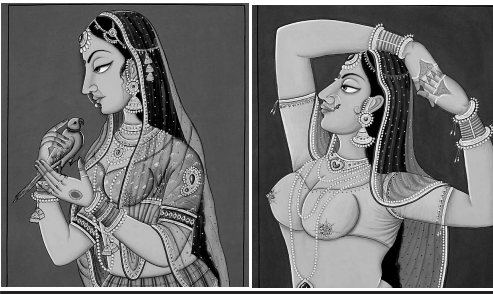
11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 205

हिंदू राष्ट्र या हिंदी नवजागरण की परिकल्पना आधुनिकता के विमर्श के सहारे ही गढ़ी गयी। 'हिंदू' या 'भारतीय' ने तो उसे सिर्फ़ क्षेत्रीय या स्थानीय रंगत प्रदान की। ऐसा न होता तो आर्यसमाजियों से लेकर मार्क्सवादियों तक सभी ने एक ही सुर में रीतिकालीन शृंगारिक कविता की निंदा न की होती।

विचार होता चला आ रहा है। विचारधाराएँ अलग-अलग हो सकती हैं, लेकिन शायद ही कोई ऐसी विचारधारा हो, जो साहित्य और कलाओं की स्वतंत्र सर्जनात्मक एवं वैचारिक सामर्थ्य को स्वीकार करती हो। वे यह मान कर चलती हैं कि अंतिम सत्य का ज्ञान उनके पास है तथा साहित्य और कलाओं का काम इस अंतिम सत्य को रचना में ढालना भर है। यह आश्चर्यजनक नहीं कि साहित्यिक आलोचना के नाम पर ज़्यादातर साहित्यिक कृतियों में उपलब्ध ज्ञान को खोज निकालने भर की कोशिश की जाती है और यह ज्ञान भी वही है जो आधुनिकता के विमर्श में पहले से ज्ञात है।

हमारे यहाँ आधुनिकता के निकष पर कलाओं और साहित्य का अध्ययन करने और उनका इतिहास लिखने की शुरुआत उन्नीसवीं सदी में हुई। आरम्भिक अध्येता पश्चिमी विद्वान, प्रशासक और मिशनरी थे, लेकिन इस सिलसिले को भारतीय विद्वानों ने भी थोड़े बहुत बदलाव के साथ आगे बढ़ाया। इसलिए यह अकारण नहीं है कि पतनशील और अश्लील साहित्य के रूप में रीतिकालीन साहित्य के अवमूल्यन का सिलसिला भले ही ग्रियर्सन के साथ शुरू हुआ हो, लेकिन उसे परवान चढ़ाने का काम हिंदी के विद्वानों ने बख़ूबी किया। यह ज़रूर है कि हिंदी के आरम्भिक अध्येता, जिनमें रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, अपनी परम्परा से गहरे जुड़े होने के कारण रीतिकालीन शृंगारिक कविता की ख़ूबियों से भी भलीभाँति परिचित थे और इसीलिए आधुनिकता की वैचारिकी के प्रभाव से उसकी प्रासंगिकता सिद्ध करने में उन्हें दिक़्क़त पेश आती थी। लेकिन परवर्ती वामपंथी एवं अन्य तथाकथित रूप से क्रांतिकारी आलोचकों की नजर में रीतिकालीन शृंगारिक कविता को ले कर इस तरह का द्वैतभाव या असमंजस भी दिखाई नहीं पड़ता और उनके लिए समूची रीतिकालीन कविता दरबारी और सामंती होने के कारण त्याज्य हो जाती है।

यह मानना पूरी तरह से सही नहीं है कि हिंदू राष्ट्र की परिकल्पना में इस प्रकार की शृंगारिक और पतनशील कविता के लिए जगह नहीं बची। असल सवाल यह है कि हिंदू राष्ट्र या हिंदी नवजागरण जैसी कोई चीज़ निर्मित भी की गयी तो यह निर्मिति किस वैचारिक बुनियाद पर खड़ी हुई। कहना न होगा कि हिंदू राष्ट्र या हिंदी नवजागरण की परिकल्पना आधुनिकता के विमर्श के सहारे ही गढ़ी गयी। 'हिंदू' या 'भारतीय' ने तो उसे सिर्फ़ क्षेत्रीय या स्थानीय रंगत प्रदान की। ऐसा न होता तो आर्यसमाजियों से लेकर मार्क्सवादियों तक सभी ने एक ही सुर में रीतिकालीन शृंगारिक कविता की निंदा न की होती। प्रेमचंद का 1936 में दिया गया प्रसिद्ध भाषण, जो बाद में 'साहित्य का उद्देश्य' नाम से प्रकाशित हुआ, इस प्रसंग में विशेष रूप से ध्यातव्य है। इसलिए अकारण नहीं है कि आधुनिकता की वैचारिकी से प्रेरित साहित्यिक-सांस्कृतिक इतिहास लेखन में ऐसे सभी तत्त्वों को बाहर कर दिया गया जिनकी प्रासंगिकता संदिग्ध थी।

संदिग्ध प्रासंगिकता की चपेट में सिर्फ़ रीतिकालीन शृंगारिक कविता ही नहीं आयी; लोक-साहित्य, संस्कृत-साहित्य, स्थापत्य एवं चित्रकला से संबंधित सभी रचनाएँ और निर्मितियाँ भी आ गयीं। इसलिए रीतिकाल के मूल्यांकन को इकलौती घटना मानने के बजाय, इसे बृहत्तर परिदृश्य में

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 206

रख कर देखना चाहिए। सुधीश पचौरी ने अपनी पुस्तक का नाम ही *रीतिकाल : सेक्सुअलिटी का समारोह* रखा है। लेकिन दिलचस्प है कि इसी पुस्तक में सुधीश पचौरी ने यह भी लिखा है, 'सेक्सुअलिटी और काम के बीच का फ़र्क़ दो भूगोलों और सांस्कृतिक जीवन पद्धति का फ़र्क़ है।' (पृ. 179)। मुझे लगता है कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है जिसकी ओर सुधीश पचौरी ने संकेत किया है, लेकिन इस फ़र्क़ से पैदा होने वाले निहितार्थों का सम्यक् निर्वाह इस पुस्तक में कदाचित् नहीं हो पाया है। अगर ऐसा होता तो फिर इस पुस्तक के शीर्षक में 'सेक्सुअलिटी का समारोह' की जगह 'कामोत्सव' या 'कामलीला' पदबंध होता। सुधीश पचौरी ने इस पुस्तक में मिशेल फ़ूको का एक कथन दिया है, जिसे उद्धृत न करना अक्षम्य होगा :

> ऐतिहासिक दृष्टि से सेक्स के सत्य को पैदा करने वाली दो प्रकार की महान प्रक्रियाएँ रही हैं। एक ओर चीन, जापान, भारत, रोम, अरब मुस्लिम समाज ऐसे समाज रहे हैं जिनमें 'आर्स इरोटिका' यानी 'कामुक कला' में सत्य की प्राप्ति स्वयं आनंद (प्लेज़र) से होती है। आनंद एक व्यवहार है और वह अनुभव की सम्पन्नता है। आनंद, वर्जनाओं और स्वीकृतियों के परम विधि-विधानों से नहीं माना जाता, न उसे उपयोगिता के ज़रिये ही समझा जा सकता है। इसका आनंद के रूप में ही अनुभव किया जाता है और इसका मूल्यांकन उसकी गहराई, उसकी ख़ास गुणवत्ता, उसकी अवधि, आत्मा और देह में उसकी अनुगूँज से किया जाता है। (पृ. 184)

भारतीय कला के संबंध में ऐसी बात मिशेल फ़ूको इसलिए लिख सकते थे क्योंकि वे स्वयं आधुनिकता की ज्ञानमीमांसा के महत्त्वपूर्ण आलोचकों में से एक थे। वैसे, अपने यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी की *प्राचीन भारत के कला विनोद* और *कालिदास की लालित्य योजना* में कला और साहित्य की भारतीय सामाजिक जीवन में महत्ता एवं भूमिका पर पर्याप्त संकेत मौजूद हैं। आनंद कुमारस्वामी के लेखन में भी कलाविषयक भारतीय दृष्टि का उल्लेख हुआ है, लेकिन इन सबको मिला कर कला और साहित्य संबंधी भारतीय दृष्टि की खोज करने का कोई व्यवस्थित प्रयास सम्भवत: किसी विद्वान ने आगे नहीं किया। सुधीश पचौरी की इस पुस्तक में इस तरह का एक महत्त्वपूर्ण संकेत किया गया है, यद्यपि यह संकेत राधावल्लभ त्रिपाठी के एक लेख के हवाले से आया है, फिर भी इसे देख लेना उपयुक्त होगा : 'पश्चिम में सेक्सुअलिटी का विमर्श, सेक्सुअलिटी के दमन और दमन को दबी या खुली चुनौती देने के बीच बना जबकि भारतीय परम्परा में वह कामसूत्र के चलन से बना।' (पृ. 178)। यह कथन अपने आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, लेकिन यह भी सच है कि *कामसूत्र* जैसी पुस्तक उसी सभ्यता में लिखी जा सकती थी, जिसमें तीन या चार पुरुषार्थों में काम को भी एक पुरुषार्थ माना गया था। इसलिए यह अकारण नहीं कि समूचे संस्कृत साहित्य और अपभ्रंश साहित्य से लेकर खजुराहो और कोणार्क जैसे स्थापत्य में ही नहीं, बल्कि लोक-साहित्य में भी शृंगार की एक अटूट परम्परा सहज ही गोचर होती है। शृंगार के स्वरूप और उसके महत्त्व को लेकर मतभेद हो सकते हैं। इसलिए रीतिकाल में पहली बार शृंगार इतने बड़े पैमाने पर साहित्य में आया, यह मानना ग़लत होगा। उल्लेखनीय है कि भक्तिकालीन में भी शृंगारिक काव्य प्रचुर मात्रा में रचा गया। इसलिए शृंगार और भक्ति को एक दूसरे से सर्वथा अलग करके देखने की प्रवृत्ति भारतीय साहित्य-चिंतन-परम्परा में नहीं रही है। एक ऐसी सभ्यता में, जिसमें 'काम' एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत हो, साहित्य और कला में शृंगार को वर्जित किया जाना सम्भव नहीं था।

आधुनिकताप्रसूत औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी विमर्श के चंगुल से बाहर आये बिना साहित्य-कला संबंधी देशज भारतीय कला दृष्टि का अनुसंधान सम्भव नहीं है। कहना न होगा कि सुधीश पचौरी की यह पुस्तक रीतिकालीन शृंगारिक साहित्य के अध्ययन की दिशा में एक नया प्रस्थान रचती है। इसलिए इसे वि-उपनिवेशीकरण की एक बृहद परियोजना के रूप में देखना चाहिए। यह कहना लोगों को अटपटा लग सकता है, लेकिन सच्चाई से इंकार कर पाना मुश्किल है कि प्रगतिशील चिंतन-

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 207
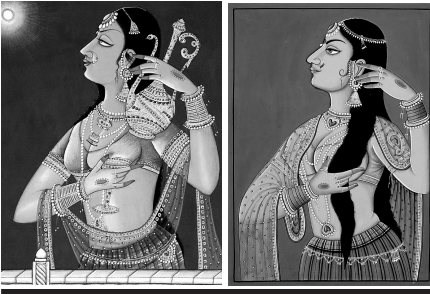
सुधीश पचौरी की यह पुस्तक रीतिकालीन शृंगारिक साहित्य के अध्ययन की दिशा में एक नया प्रस्थान रचती है। इसलिए इसे वि-उपनिवेशीकरण की एक बृहद परियोजना के रूप में देखना चाहिए। यह कहना लोगों को अटपटा लग सकता है, लेकिन सच्चाई से इंकार कर पाना मुश्किल है कि प्रगतिशील चिंतन-परम्परा भी औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा से पूरी तरह अछूती नहीं थी।

परम्परा भी औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा से पूरी तरह अछूती नहीं थी। विद्वानों ने संकेत किया है कि लम्बे समय तक समूचे विश्व का अध्ययन यूरोप को केंद्र में रख कर यूरोप के निकष पर किया जाता रहा। यूरोकेंद्रित औपनिवेशिक दृष्टि से भारत की सांस्कृतिक परम्परा का अध्ययन सम्भव नहीं है।

सुधीश पचौरी ने इस पुस्तक में रीतिकालीन हिंदी साहित्य के उन आयामों की विस्तार से चर्चा की है, जिनका इससे पहले की आलोचना में उल्लेख तो मिल जाता है लेकिन उन्हें व्यवस्थित और विकसित करने का काम सम्भवत: किसी और आलोचक ने नहीं किया था। इसलिए यह अकारण नहीं है कि इस पुस्तक के पहले अध्याय में दरबारों में रहने वाली रानियों और वेश्याओं के साहित्यिक शिक्षण के लिए बनाए गये पाठ्यक्रम के रूप में रीतिकालीन साहित्य और काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथों के महत्त्व का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में यौन शिक्षा के संदर्भ में रीतिकालीन शृंगारिक साहित्य के महत्त्व को समझाने की कोशिश की गयी है।

इसी तरह तीसरे अध्याय में काव्य की सम्यक् समझ विकसित करने की दृष्टि से देशी भाषाओं में लिखे गये काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथों का महत्त्व उद्घाटित किया गया है। काव्य लिखने की शिक्षा देने वाले ग्रंथों के महत्त्व का एहसास समकालीन हिंदी के ज़्यादातर कवियों के काव्य विवेक को देखकर और भी बढ़ जाता है। कितने समकालीन युवा कवि ऐसे हैं, जिन्होंने कभी भी छंद में लिखने का अभ्यास किया हो। अब यह बताने की ज़रूरत तो नहीं होनी चाहिए कि छंद में लिखने का अभ्यास जिसने नहीं किया, वह मुक्त छंद में कसी हुई कविता भला कैसे लिख सकेगा ! निराला ने अगर छंद में कविताएँ नहीं लिखी होती तो उनकी मुक्तछंद कविताओं में इतनी कसावट नहीं आ पाती। इसलिए रीतिकालीन कवियों द्वारा काव्यशास्त्र के ग्रंथों की रचना को कवि-शिक्षक के द्वारा किये गये कार्य से जोड़ कर देखना चाहिए और कलावादी रुझान कहकर कवि-शिक्षा के काम के महत्त्व का निषेध नहीं किया जाना चाहिए। जैसे किसी अन्य कलारूप में दक्षता अर्जित करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है, वैसे ही कवि-कर्म के लिए एक ख़ास तरह की शिक्षा और अभ्यास ज़रूरी है। कवि-कर्म के वैशिष्ट्य का निषेध करके ही हम कवि-शिक्षा के महत्त्व को नकार सकते हैं। कवि-शिक्षा के महत्त्व का निषेध करने से कवि-कर्म की गुणवत्ता का किसी न किसी रूप में क्षरण होता है।

समकालीन हिंदी कविता में ऐसे नमूने भरे पड़े हैं, जिन्हें पढ़कर यह लगता है कि इन्हें तो इसका शऊर ही नहीं है कि काव्य की भाषा कैसी होनी चाहिए। यदि उन्हें कवि-शिक्षा मिली होती तो वे इस प्रकार की मोटी और भद्दी भूलें करने से बच जाते। यह सही है कि सुधीश पचौरी ने अपनी इस पुस्तक में रीतिकालीन कवियों के शास्त्रानुशीलन, काव्याभ्यास और यौन-शिक्षा की भूमिका का विशेष रूप से उल्लेख किया है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि उन्होंने इन कवियों की काव्य-सामर्थ्य का निषेध किया है। असल में रीतिकालीन कवियों की काव्य-कला पर पहले ही इतना लिखा जा चुका था कि उसे दोहराने या उसमें कुछ और जोड़ने के बजाय रीतिकालीन कवियों की ऐसी भूमिकाओं पर ज़ोर देना ज़रूरी था, जिनका उल्लेख तो पहले के आचार्यों के यहाँ कभी-कभार दिखाई पड़ जाता है,

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 208

लेकिन इनके बारे में व्यवस्थित रूप से पहले किसी ने लिखा नहीं था। जैसे आनंदवर्धन ने *ध्वन्यालोक* में ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित कर अपना सारा विवेचन यह कह कर ध्वनि पर ही केंद्रित कर दिया। इस प्रक्रिया में उन्होंने काव्य के कला पक्ष पर लिखने की ज़रूरत नहीं महसूस की और कहा कि इस पर तो पूर्ववर्ती आचार्य पहले ही बहुत कुछ लिख चुके हैं। इसलिए उसे दोहराने के बजाय आनंदवर्धन ने उस पक्ष की चर्चा की, जिसका उल्लेख तो पहले के आचार्यों के यहाँ हो चुका था, लेकिन उसे व्यवस्थित रूप देने का कार्य नहीं हो पाया था। काव्य के कला-पक्ष पर न लिखने का मतलब उसके महत्त्व का निषेध करना नहीं है। सुधीश पचौरी ने भी रीतिकालीन कवियों की काव्य-कला के बारे में ज़्यादा नहीं लिखा, इसका मतलब यह नहीं कि वे उनकी कलात्मक सामर्थ्य से वाक़िफ़ नहीं हैं या उनके कलात्मक महत्त्व को वे नहीं समझते।

सुधीश पचौरी की पुस्तक की यह सीमा ज़रूर है कि इसमें रीतिकाल की सिर्फ़ शृंगारिक कविताओं का उल्लेख किया गया है, जबकि रीतिकाल के दौरान नीतिकाव्य और वीरकाव्य लिखने की समृद्ध परम्परा भी शृंगारिक कविताओं के समानान्तर मौजूद थी। यही नहीं, दैनंदिन जीवन से संबंधित समस्याओं पर कविताएँ बनाने वाले घाघ और भड्डरी जैसे कवि भी सक्रिय थे। हिंदी के कॉमनसेंस के विपरीत रीतिकाल के दौरान ही भक्तिपरक कविताएँ लिखने वाले कवियों की संख्या शृंगारिक कविताएँ लिखने वाले कवियों से कम नहीं, बल्कि ज़्यादा थी। इन कविताओं की गुणवत्ता पर बहस हो सकती है, लेकिन ऐसी कविताएँ लिखने वाले कवियों की संख्या काफ़ी है। इसलिए यह मानना सरासर ग़लत होगा कि रीतिकाल में भक्तिपरक कविताएँ लिखने का सिलसिला रुक गया। इस तरह की कविताएँ लिखने वाले ज़्यादातर कवि ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिख रहे थे। इसलिए यह स्वीकार करना कि ब्रजभाषा में सिर्फ़ शृंगारिक क़िस्म की कविताएँ ही लिखी जा सकती थीं, उसके अतीत ही नहीं, बल्कि उसके 'वर्तमान' की दृष्टि से भी ग़लत है। रीतिकाल के दौरान शृंगार से इतर दूसरे विषयों पर ब्रजभाषा में लिखी जाने वाली कविता के इतिहास को नज़रअंदाज़ करने का दुष्परिणाम यह हुआ है कि सुधीश पचौरी इस पुस्तक में कहीं-कहीं यह मानते से प्रतीत होते हैं कि ब्रजभाषा में ऐसी सामर्थ्य नहीं बची थी कि नये युग के अनुरूप उसमें काव्य रचना की जा सके।

इस प्रसंग में पंत के *पल्लव* से पचौरी द्वारा ब्रजभाषा संबंधी दिये गये कतिपय उद्धरण और तत्संबंधी उनकी टिप्पणियाँ द्रष्टव्य हैं : (पृ. 103-104)

> *पल्लव* का उद्धरण : 'हमें भाषा नहीं राष्ट्र भाषा की आवश्यकता है।'
>
> 'हम इस ब्रज की जीर्ण शीर्ण छिद्रों से भरी पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते। उसकी अंधी गलियों में आधुनिक सभ्यता का विशद यान नहीं जा सकता।'
>
> पचौरी की टिप्पणियाँ :
>
> 'यह एक बड़ा कार्यभार है। ब्रजभाषा इसे पूरा करने के लिए पैदा नहीं हुई थी। न उसकी कविता ही पैदा हुई थी। तब उससे इन कामों को लेने का आग्रह कैसा? उसकी अक्षमता तो साफ़ ही थी तब उससे अपेक्षा क्यों?
>
> 'यह सब सही है लेकिन हम फिर वही दुहारते हैं कि जब ब्रजभाषा नये परिवर्तनों के बीच स्वयं ही 'आउट ऑफ़ डेट' हो चुकी हो तब उसकी कविता से शिकायत कैसी?'

एक तरह से वे रीतिकाल की आलोचना या निंदा करने वाले विद्वानों को स्वीकार करते-से लगते हैं। आश्चर्य होता है कि रीतिकालीन नीतिकाव्य और वीरकाव्य पर अनेक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध लिखे गये हैं। इसके बावजूद इस पुस्तक में शृंगारेतर काव्य का कहीं उल्लेख ही नहीं किया गया है। आज ज़रूरत इस बात की है कि विश्वविद्यालयों में रीतिकालीन साहित्य को लेकर किये गये महत्त्वपूर्ण अध्ययन सामने लाए जाएँ और उनके महत्त्व को रेखांकित किया जाए। एक विशेष प्रकार की वैचारिक-सांस्कृतिक समझ का वर्चस्व स्थापित हो जाने के कारण रीतिकाल संबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को हिंदी में दरकिनार कर दिया गया और उन पर किसी प्रकार की चर्चा नहीं हुई। हिंदी साहित्य का इतिहास

11_venkatesh_rajkumar:Layout 1 2/9/2018 3:40 PM Page 209

लिखने वाले परवर्ती विद्वानों ने भी इस तरह के ग्रंथों का कहीं उल्लेख नहीं किया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि हिंदी–अध्ययन स्टारडम का शिकार रहा है। हिंदी–साहित्येतिहास के ग्रंथों में सिर्फ़ सुपरस्टार क़िस्म के आलोचकों के ग्रंथों का संदर्भ देने की परम्परा रही है। ये सुपरस्टार हिंदी के अतीत, वर्तमान और भविष्य पर समान अधिकार से बोलने, लिखने की सामर्थ्य रखते हैं। इसलिए किसी कालखण्ड, प्रवृत्ति विशेष या रचनाकार विशेष का अध्ययन करने वाले ग्रंथों का हिंदी साहित्येतिहास में प्राय: उल्लेख ही नहीं किया जाता। मिसाल के तौर पर राजकमल बोरा का रीतिकालीन वीरकाव्य पर बहुत अच्छा काम है, लेकिन शायद ही हिंदी साहित्येतिहास का कोई ग्रंथ हो, जो रीतिकालीन वीरकाव्य का मूल्यांकन इस शोध को ध्यान में रख कर करता हो। इस तरह की पुस्तकों और लेखों की संख्या काफ़ी है, लेकिन हिंदी जगत में उनकी कभी चर्चा नहीं होती, क्योंकि उन्हें किसी सुपरस्टार आलोचक या विद्वान ने नहीं लिखा है।

रीतिकालीन शृंगारेतर कविताओं की चर्चा न करने से सुधीश पचौरी की इस पुस्तक का महत्त्व कम नहीं हो जाता। बहस उस विषय पर होनी चाहिए जिस पर यह पुस्तक केंद्रित है। और सिर्फ़ किसी आलोचक विद्वान की दो चार पंक्तियाँ उद्धृत– कर शृंगार के अवमूल्यन के इतिहास को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। उल्लेखनीय है कि ऐसा सिर्फ़ शृंगारिक कविताओं के प्रसंग में ही नहीं हुआ, लोकसाहित्य से लेकर स्थापत्य तक हर जगह शृंगार को अश्लील, पतनशील कहकर अमर्यादित किया गया। इस तरह की बहस से अदालत में मुक़दमे तो जीते जा सकते हैं, लेकिन ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में ऐसी बहसें प्राय: अनुर्वर ही साबित हुई हैं।